।। जैन शासन जयकारा ।।

प्रभु वीर की श्रमण परंपरा

– देवलोक से दिव्य सान्निध्य –

प.पू. गुरुदेव श्री जम्बूविजयजी महाराज

– मार्गदर्शन –

डॉ. प्रीतमबेन सिंघवी

– संपादक –

भूषण शाह
(M.E. (I.T.), M. Phil)

– प्रकाशक/प्राप्ति स्थान –

मिशन जैनत्व जागरण
'जंबूवृक्ष' सी/504, श्री हरि अर्जुन सोसायटी,
चाणक्यपुरी ओवर ब्रिज के नीचे,
प्रभात चौक के पास, घाटलोडीया
अहमदाबाद –380061
मो. 09601529519, 9429810625
E-mail - shahbhushan99@gmail.com

प्रभु वीर की श्रमण परंपरा

© संपादक एवं प्रकाशक
* प्रतियाँ : 1000
* प्रकाशन वर्ष : वि. सं. 2073, ई. सं. 2017
* मूल्य : 20 ₹
* न्याय क्षेत्र : अहमदाबाद

प्राप्ति स्थान

'मिशन जैनत्व जागरण' के सभी केन्द्र

अहमदाबाद
101, शान्तम् एपार्ट.
हरिदास पार्क,
सेटेलाइट रोड,
अमहदाबाद

जयपुर (राज.)
आकाश जैन
ए/133, नित्यानंद नगर
क्वीन्स रोड, जयपुर

नाशिक (महा.)
आनंद नागशेठिया
641, महाशोबा लेन
रविवार पेठ,
नाशिक (महा.)

आग्रा (उ.प्र.)
सचिन जैन
डी-19, अलका कुंज
खावेरी फेझ-2
कमलानगर - आग्रा

Chennai
Komal Shah
B-13,kent apts,
26 Ritherdon rd, Vepery,
Chennai - 600007

मुंबई
हेरत मणियार
ए/11 , ओम जोशी एपार्ट
लल्लुभाई पार्क रोड,
ऐंजललेंड स्कूल के सामने
अंधेरी (वेस्ट) मुंबई

भीलवाड़ा (राज.)
सुनिल जैन (बालड़)
सुपार्श्व गृह जैन मंदिर के पास
जमना विहार-भीलवाड़ा

Bangalore
Premlataji Chauhan
425, 2nd Floor,
7th B Main, 4th Block
Jaynagar, **Bangalore**

लुधियाणा
अभिषेक जैन,
शान्ति निटवेर्स
पुराना बाजार
लुधियाणा (पंजाब)

उदयपुर (राज.)
अरुण कुमार बडाला
अध्यक्ष अखिल भारतीय
श्री जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक
युवक महासंघ उदयपुर शहर
427-बी, एमराल्ड टावर,
हाथीपोल,
उदयपुर-313001 (राज.)

* प्रस्तुत पुस्तक पत्र प्राप्त होने पर पू. साधु-साध्वी भगवंतों को भेंट स्वरूप भेजी जाएगी। * आवश्यकता न होने पर पुस्तक को प्रकाशक के पते पर वापस भेजने का कष्ट करें। * आप इसे Online भी पढ़ सकते हैं.... www.jaineliabrary.org. पर। * पुस्तक के विषय में आपके अभिप्राय अवश्य भेजें। * पोस्ट से या कुरियर से मंगवाने वाले प्रकाशक के एड्रेस से मंगवा सकते हैं।

* मुद्रक : ममता क्रियेशन, मुंबई (77384 08740)

प्रभुवीर की
गुणानुरागी,
सुविशुद्ध संयमी,
शासनहितैकलक्षी...

श्रमण परंपरा

एवं

उसके

उपासक श्रावकसंघ

के करकमलों में...

''सादर समर्पित''

अनुक्रमणिका

क्र.		पृष्ठ.
1.	हृदय की बात	5
2.	प्रभु वीर की श्रमण परंपरा	6
3.	प्रथम नाम – निर्ग्रंथ गच्छ	7
4.	द्वितीय नाम–कोटिक गच्छ (कोटि गण)	9
5.	तृतीय नाम–चंद्रगच्छ	10
6.	चतुर्थ नाम–वनवासी गच्छ	12
7.	पंचम नाम–बड़गच्छ	13
8.	षष्ठ नाम– तपागच्छ	14
9.	तपागच्छ के चमकते सितारे	18
10.	तपागच्छ के अभ्युदय सूचक भिन्न–भिन्न देव वाणियाँ	20
11.	महोपाध्याय यशोविजयजी के वचन	22
12.	शासन एकता (परिशिष्ट–1)	25
13.	चैत्र गच्छ और बड़गच्छ (परिशिष्ट–2)	26
14.	क्रांतिकारी तपागच्छ के आचार्य जगच्चंद्रसूरिजी म.सा. (परिशिष्ट –3)	27

हृदय की बात...

इतिहास!! राष्ट्र, धर्म एवं संस्कृति का यह वह अङ्ग है, जिसको जाने बिना व्यक्ति का राष्ट्र, धर्म और संस्कृति के प्रति श्रद्धा-समर्पण भाव प्राणवंत नहीं बन सकता है।

इतिहास वह दर्पण है जो भूतकाल में हुई घटनाओं को यथावत् दिखलाकर भूलों को सुधारने एवं आदर्श जीवन निर्माण करने की प्रेरणा देता रहता है।

श्रमण परंपरा का इतिहास बताता है कि धर्म और संस्कृति की उन्नति एवं रक्षण हेतु महापुरुषों ने कैसा भगीरथ पुरुषार्थ किया एवं बलिदान दिया था। उसे जानने से ही धर्म, संस्कृति एवं उसको संरक्षित करने वाली श्रमण परंपरा के प्रति श्रद्धा बहुमान एवं समर्पण भाव की पावन गंगा हृदय रूपी मानस सरोवर में प्रगट हो सकती है।

आज कई जैनों को इतिहास का सही ज्ञान न होने से-तपागच्छ की उत्पत्ति कब हुई? कहाँ से हुई? वह कितना प्राचीन है? क्या अन्य गच्छ उनसे भी प्राचीन है? इत्यादि जिज्ञासाएँ हृदय में उठती रहती है। अतः उनके समाधान हेतु प्रभुवीर से चली श्रमण परंपरा का यहाँ संक्षिप्त इतिहास दिया है, क्योंकि तपागच्छ एवं प्रभु वीर की श्रमण परंपरा में कोई अन्तर नहीं है, अतः उसका इतिहास वहीं से प्रारंभ होता है, जब से प्रभुवीर की श्रमण परंपरा प्रारंभ हुई थी।

इतिहास लेखन का यह प्रयास मात्र उक्त जिज्ञासाओं के संतोष हेतु, उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्रीओं के आधार से किया है।

सत्य ज्ञान के बल से प्रगट हुआ, गच्छ का स्वाभिमान सत्यमूलक होने से आराधना की पुष्टि कराने वाला होता है। परंतु, सत्य के पक्षपात से रहित वह ही गच्छराग यानी 'दृष्टिराग' स्वरूप बनकर आराधना में बाधक बनता है। अतः आशा है की सत्य के शोधक एवं गुणग्राही वाचक वर्ग प्रस्तुत किये गये इतिहास का मध्यस्थतापूर्वक परिशीलन करके सत्य का साक्षात्कार करेंगे एवं तदनुसार आराधना करके परंपरा से मुक्ति सुख को प्राप्त करेंगे।

इस ऐतिहासिक लेख में तटस्थता पूर्वक सत्य को सरल एवं मधुर शब्दों से प्रस्तुत करने का यथाशक्य प्रयास किया गया है, फिर भी कोई क्षति रह गई हो या किसी की भावना को ठेंस पहुँची हो तो **मिच्छा-मि-दुक्कडम्**।

-भूषण शाह

प्रभु वीर की श्रमण परंपरा

''**प्रभु वीर की श्रमण परंपरा**'' यानी श्रमण भगवान् महावीर से आज तक का श्रमण प्रवाह। इसमें श्रमणों के तप, जप, ज्ञान आदि गुणों की विशिष्टता के कारण पड़े विभिन्न नामों का वर्णन दिया गया है।

श्रमण भगवान महावीर के समय में नौ गण और ग्यारह गणधर थे। जिन जिन साधुओं की वाचना एक साथ होती है, वह एक गण कहलाता है। प्रथम के सात गणधरों की वाचनाएं अलग-अलग होती थी। उनकी द्वादशांगी अर्थ से समान थी लेकिन सूत्रों से भिन्न-भिन्न थी। आठवें और नौवें गणधर तथा दसवें और ग्यारहवें गणधरों की द्वादशांगी सूत्र-अर्थ दोनों से समान होने के कारण उनके शिष्यों की वाचनाएँ साथ-साथ होती थी।

इस तरह श्रमण भगवान महावीर के समय में ग्यारह गणधर और नौ गण थे। जिसमें सूत्र एवं सामाचारी का भेद होते हुए भी सिद्धान्त भेद नहीं था।

श्रमण भगवान महावीर स्वामी के मोक्षगमन के पूर्व ही नौ गणधर मोक्ष पधार गये थे। इस कारण इनकी शिष्य परंपरा पंचम गणधर सुधर्मा स्वामीजी की निश्रा में आ गई थी। प्रभु वीर के निर्वाण के बाद जब गौतमस्वामीजी का निर्वाण हुआ तब उनकी शिष्य परंपरा भी सुधर्मास्वामीजी की निश्रा में आयी। अतः तब से श्रमण परंपरा सुधर्मा स्वामीजी से प्राप्त सूत्र-सामाचारी-सिद्धान्त को एक रूप से मानने लगी। इस कारण श्रमण परंपरा सुधर्मास्वामीजी की कहलाती है।

प्रथम नाम – निर्ग्रंथ गच्छ

सुधर्मास्वामीजी की इस परंपरा का प्रथम नाम 'निर्ग्रंथ परंपरा' था। ग्रंथ का अर्थ गांठ यानि परिग्रह, अतः **निर्ग्रन्थ** शब्द का अर्थ **'बाह्य[1] और अभ्यंतर[2] परिग्रह से मुक्त'** होता है। निष्परिग्रहता, निरीहता आदि गुणों के कारण जैन श्रमणों को 'निर्ग्रंथ' इस नाम से आगमों में, अशोक आदि के पुरातन शिलालेखों में तथा बौद्ध साहित्य [3]में भी संबोधित किया है। **अतः ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में श्रमण परंपरा 'निर्ग्रंथ परंपरा' के रूप से प्रसिद्ध थी। यह श्रमण परंपरा का प्रथम नाम था।**

यह भी जानने लायक है कि उस समय भगवान पार्श्वनाथजी की परंपरा के श्रमण संघ में प्रधान आचार्य **'श्री केशी स्वामी'** थे। उन्होंने श्री इन्द्रभूति गौतम-गणधर से विचार विमर्श करके भगवान महावीर के शासन में प्रवेश किया। उनकी शिष्य परंपरा भी निर्ग्रंथ परंपरा का अभिन्न अंग बन गया। फिर भी वह परंपरा 'पार्श्वनाथ संतानीय' 'उपकेश गच्छ' और 'कंवला गच्छ' इन नामों से प्रसिद्ध हुई। यह परंपरा श्वेतांबरीय परंपरा ही थी[4]। उस तरह सुधर्मा स्वामीजी की यह परंपरा आठ पाट तक 'निर्ग्रंथ गण' के रूप में पहचानी जाती थी।

श्रमण भगवान महावीर के समय में और उनके निर्वाण के बाद भी श्रमण संघ का विचरण मुख्यतया मगध देश एवं उनके आस-पास के क्षेत्रों में था। परंतु ऐतिहासिक आधारों से पता चलता है कि दो बार ऐसे कारण उपस्थित हुए जिस कारण से श्रमणों का विचरण दूर-सुदूर क्षेत्रों तक होने लगा।

वे कारण इस तरह के थे-

(1) वीर निर्वाण संवत् 148 से 160 में बारह वर्ष का भीषण अकाल पड़ने से

---

1. **बाह्य परिग्रह**[(9)] – धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु (मकान आदि) रुप्य (चांदी), सुवर्ण, कुप्य (तांबा) द्विपद (मनुष्य चाकर), चतुष्पद (पशु)
2. **अभ्यंतर परिग्रह**[(14)] – पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद, वेद, हास्य-रति-अरति-भय-शोक-जुगुप्सा, क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्व।
3. लोहित्याभिजाति नाम 'निग्गंथो' 'एकसाटिक' इति वदन्ति-मज्झिमनिकाय (बौद्ध त्रिपिटक)
4. इसी परंपरा में हुए आ. रत्नप्रभसूरिजी ने वीर निर्वाण 70 में उपकेश नगर (ओसियाजी) के राजा आदि को प्रतिबोध देकर जैन बनाया और ओसवाल वंश की स्थापना की। तथा उन्होंने ही वहाँ पर भगवान् महावीरस्वामी की प्रतिष्ठा की थी।

निर्ग्रंथों की संख्या घट गई, श्रुतज्ञान की भी बड़ी हानि हुई। ऐसी स्थिति में श्रमणों की संख्या बढ़ाना, सुरक्षा करना, श्रुतज्ञान की रक्षा करना ये दोनों प्रमुख कर्तव्य थे। अतः अकाल के कारण समुद्र स्तरीय विस्तार की ओर अलग-अलग विचरण होने लगा।

(2) उसके करीबन सौ वर्ष पश्चात् प्रायः वीर निर्वाण 240 से 290 तक सम्राट संप्रत्ति ने जैन धर्म के प्रचार हेतु सुविधायें प्रदान की एवं श्रमण संघ को धर्म प्रचार करने की भावपूर्वक विनंति की। अतः धर्म-प्रभावना के लाभ को ध्यान में रखकर भी निर्ग्रंथों का दूर-दूर क्षेत्रों में विचरण हुआ।

इन दोनों कारणों से दूर-दूर विचरने वाले साधु समुदायों के तत्कालीन आचार्य और विचरण क्षेत्र आदि के नामों से भिन्न-भिन्न नाम, कुल, शाखाओं के रूपसे निर्ग्रंथ गण प्रसिद्ध हुआ। जो संक्षेप में इस प्रकार है-

श्री भद्रबाहुस्वामीजी के शिष्य गोदासजी से गोदास गण, आर्य महागिरिजी के शिष्य उत्तरजी और बलिस्सहजी से बलिस्सह गण, आर्य सुहस्तिसूरिजी के शिष्यों से उद्देह, चारण, वेसवाडिय, मानव और कोटिक गण निकले। इन सभी गणों के भिन्न-भिन्न कुल और शाखायें भी उत्पन्न हुई। [1]ये सभी निर्ग्रंथ गच्छ की ही अभिन्न शाखाएँ थीं।

1 विशेष के लिये देखें 'कल्पसूत्र स्थविरावली'।

द्वितीय नाम कोटिक गच्छ (कोटि गण)

आठवीं पाट के आचार्य श्री आर्य सुहस्तिसूरिजी के बारह मुख्य शिष्य थे। उनमें पाँचवे और छट्ठे शिष्य आर्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबुद्ध दोनों शिष्यों ने उदयगिरि पहाड़ पर क्रोड़ बार सूरिमंत्र का जाप किया। इस कारण उनकी शिष्य परंपरा वीर निर्वाण सं. 300 के आसपास 'कोटिक गण' नाम से प्रसिद्ध हुई। तथा ऐसा भी कहा जाता है कि आर्य सुस्थित कोटिवर्षा नगरी के होने से 'कोटिक' कहलाते थे। आर्य सुप्रतिबुद्ध काकंदी नगरी के होने से 'काकंदक' कहलाते थे।[1] अतः कोटिक आर्य सुस्थित एवं काकंदक आर्य सुप्रतिबुद्ध से जो गण निकला वह कोटिक गण कहलाने लगा। इस कोटिक गण का इतना विस्तार हुआ कि बाकी के गण आदि इससे आच्छादित हो गये। **इस कारण श्रमण प्रवाह में कोटिक गण की परंपरा ही विशेष रूप से आगे तक चलती रही।**

कोटिक गण की उच्चानागरी, विद्याधरी, वज्री और माध्यमिक चार शाखाएँ और श्रेणिका, तापसी, कुबेरी, ऋषिपालिता, ब्रह्मद्वीपिका, नागिली (नाईल) पद्मा, जयन्ती, तापसी उपशाखाएँ थी। बंभलिज्ज, वाणिज्य, वत्थलिज्ज और प्रश्नवाहन चार कुल थे।

यह पुरा 'कोटिक गण' निर्ग्रंथ गच्छ का ही विस्तारित स्वरूप हैं। जैसे एक बड़ी बैंक का विस्तार बढ़ने पर उसकी अनेक शाखाएँ एवं उपशाखाएँ नियुक्त की जाती हैं। वैसे ही निर्ग्रंथ गच्छ का कोटिक आदि गणों के रूप में तथा उन गणों का भी कुल एवं शाखाओं के रूप में विस्तार हुआ था। इन गच्छों में सिद्धान्त भेद, क्रियाभेद का लवलेश भी नहीं था। अपनी-अपनी कक्षा में रहकर सब मूलभूत जैन सिद्धान्त और संघ को पुष्ट करते थे। संघ के हित का मार्ग सभी मान्य रखते थे। उसमें मतभेदों को स्थान नहीं था। श्री कालकाचार्यजी ने वीर निर्वाण सं. 458 में पंचमी की चतुर्थी की तो सबने मान्य रखी। कभी किसी आचार्य का अभिप्राय अलग आ जावे तो 'इन आचार्य का यह मत है अन्य आचार्यों का यह मत है' इस प्रकार सभी के शास्त्र अविरुद्ध मत-अभिप्राय मान्य रखकर स्वीकार किये जाते थे। **इस तरह आठवीं पाट से श्रमण-प्रवाह 'कोटिकगण' के रूप में चलता रहा।**

---

1 थेरेहिंतो णं सुट्ठिय-सुपडिबुद्धेहिंतो कोडिय-काकन्दएहिंतो वग्घावच्चसगोत्तेहिं तो एत्थ णं कोडियगणे नामं गणे निग्गए। (कल्पसूत्र स्थविरावली)

तृतीय नाम-चंद्रगच्छ (चांद्रकुल)

तेरहवीं पाट पर आचार्य वज्रस्वामी हुए जो अंतिम दश-पूर्वधर थे। आचार्य श्री वज्रस्वामीजी की शिष्य परंपरा 'वज्री शाखा' (वैरी शाखा) के रूप से पहचानी जाने लगी। उनके प्रशिष्य श्री चन्द्रसूरिजी से 'चंद्रगच्छ' (चान्द्र कुल) प्रसिद्ध हुआ। इसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

विक्रम की दूसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में पुनः बारह वर्ष का भीषण अकाल पड़ा। श्री वज्रस्वामीजी ने 500 साधुओं के साथ दक्षिण में रथावर्तगिरी पर अनशन किया। उस श्रमण संघ में से श्री वज्रसेनसूरिजी, गुरु की आज्ञा से श्रमण परंपरा को कायम रखने हेतु विहार करके सोपारक नगर गये। वहाँ पर वज्रस्वामीजी के अंतिम समय के वचनानुसार वज्रसेनसूरिजी ने अकाल की शांति का भविष्य जानकर शेठ जिनदत्त, शेठाणी ईश्वरी एवं नागेन्द्र, चंद्र, निवृत्ति और विद्याधर नाम के उनके चार पुत्रों को लाख मूल्यवाले भात (चावल) में जहर मिलाने का मना करके, उन्हें मृत्यु के मुख से बचाया। बाद में पूरे परिवार ने दीक्षा अंगीकार की। चारों पुत्र क्रमशः आचार्य बने। इन चारों आचार्यों के नाम से वीर निर्वाण संवत 630 के बाद चार गच्छों की उत्पत्ति हुई। चार आचार्यों में से चन्द्रसूरिजी से चंद्रगच्छ (चान्द्रकुल) प्रख्यात हुआ।

नागेन्द्रसूरिजी से निकले नागेन्द्र गच्छ में वनराज चावड़ा प्रतिबोधक आचार्य श्री शीलगुणसूरि, वस्तुपाल के गुरु श्री विजयसेनसूरि, स्याद्वाद मंजरीकार श्री मल्लिषेणसूरि, चांद्र कुल में नवांगी टीकाकार श्री अभयदेवसूरि*, निवृत्ति कुल में शीलाङ्काचार्य एवं द्रोणाचार्य, नवखंडा पार्श्वनाथ प्रभु के प्रतिष्ठापक महेन्द्रसूरि और विद्याधर गच्छ के 1444 ग्रंथों के रचयिता सूरिपुरंदर आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी आदि प्रसिद्ध हुए। इनमें से तीन परंपराएँ अधिक काल अस्तित्व में नहीं रही केवल चान्द्र कुल आगे तक चलता रहा। **इस तरह पंद्रहवीं पाट पर हुए श्री चंद्रसूरिजी से श्रमण परंपरा का तीसरा नाम चंद्र गच्छ अथवा 'चान्द्रकुल' पड़ा।**

उपर्युक्त समय दरम्यान यदि कोई निर्ग्रन्थ श्रमण अपनी कल्पना से सिद्धान्त के विरोधी तर्क चलाता तो श्रमण-संघ उनको समझाकर सिद्धान्त के अनुकूल चलने के लिये बाध्य करता। फिर भी कोई दुराग्रह को न छोड़े तो श्रमण संघ उन्हें संघ से दूर किये जाने की उद्घोषणा कर देता। श्रमण भगवान महावीर की जीवित अवस्था

* प्रभावक चरित्र एवं अभयदेवसूरिजी कृत टीका की प्रशस्तिओं से पता चलता है कि वे चांद्रकुल के ही थे।

में भी ऐसी घटनाएँ बनीं। महावीर प्रभु को तीर्थंकर पद प्राप्त होने के बाद 14वें और 20 वें वर्ष में क्रमशः जमाली और तिष्यगुप्त को श्रमण संघ से बहिष्कृत किये जाने के प्रसंग सूत्रों में उपलब्ध हैं। ऐसे व्यक्तियों को 'निह्नव' के नाम से उल्लिखित किया है। औपपातिक, स्थानांग सूत्र एवं आवश्यक निर्युक्ति में इनकी संख्या 7 होने का निर्देश है।

1. वीर प्रभु के तीर्थंकर पद से 14 वें वर्ष में जमाली ने 'बहुरत' मत चलाया।
2. वीर प्रभु के तीर्थंकर पद से 20वें वर्ष में तिष्यगुप्त ने 'जीव प्रदेश' मत चलाया।
3. वीर निर्वाण संवत् 214 में आषाढ़ाचार्य के शिष्यों ने 'अव्यक्त मत' चलाया।
4. वीर निर्वाण सं. 320 में आर्य महागिरिजी के पंचम शिष्य कौडिन्य के शिष्य अश्वमित्र ने ' सामुच्छेदिक (शून्यवाद)' मत चलाया।
5. वीर निर्वाण सं. 328 में आर्य महागिरिजी के शिष्य धनगुप्त के शिष्य गंगदत्त ने 'द्विक्रिय' मत स्थापित किया।
6. वीर निर्वाण सं. 544 में रोहगुप्त ने 'त्रैराशिक' मत स्थापन किया।
7. वीर निर्वाण सं. 584 में गोष्ठामाहिल ने 'अबद्धिक' मत चलाया।

(आवश्यक निर्युक्ति गाथा 778 से 788, विशेषावश्यक भाष्य गाथा 2300 से 2550)

इनमें से कितनेक निह्नवों ने अपने जीवितकाल में ही योग्य व्यक्तियों द्वारा समझाने से अपने मत को छोड़ दिया था। विस्तार भय से यहाँ पुरा विवरण नहीं लिखा है। अन्य किसी तीर्थंकर के शासन में निह्नव नहीं हुये। भगवान महावीर के निर्वाण के 609 वर्ष व्यतीत हुए तब रथवीरपुर नगर में बोटिक मत उत्पन्न हआ। आ. हरिभद्रसूरीश्वरजी फरमाते हैं कि-बोटिक मत सर्व विसंवादी होने के कारण अन्य निह्नवों के साथ इनका नाम नहीं लिखा है। शास्त्रों में बताये निह्नवों की तरह ही आगमोक मूर्तिपूजा का निषेध एवं 45 में से 13 आगम छोड़कर 32 आगमों को ही मानना तथा मूलभूत के सिवाय निर्युक्तिभाष्य, चूर्णि, टीका आदि अर्थागम को नहीं मानने के स्वरूप निह्नवन (छुपाने) की क्रिया करने वाला स्थानकवासी पंथ श्रीमान लोकाशाह से निलका तथा दया-दान आदि रूप धर्म को अंग को छुपाने वाला तेरापंथ भी इसी निह्नव कोटि में आता है, जिनका शास्त्रों में उल्लेख

नहीं मिलता है।

निह्नव मत के स्थापकों ने भगवान के सिद्धान्त को ‘निह्नव किया’ (छुपाया) इस कारण उन्हें ‘निह्नव’ के नाम से जाना जाता है। ये सब प्राचीन जैन संघ की विरोधी शाखाएँ थीं।

निह्नवों के इस प्रासंगिक वर्णन के बाद श्रमण परंपरा के मौलिक इतिहास की ओर पुनः चलते हैं।

चतुर्थ नाम - वनवासी गच्छ

आचार्य चन्द्रसूरिजी की पाट पर आचार्य समन्तभद्रसूरि हुये। ये आचार्य पूर्वविद् थे और घोर तपस्वी थे। अधिकांशतः देवकुल, शून्यस्थान और वनों में स्थिरता करते थे। उसी समयांतर में श्वेतांबर-दिगम्बर के भेद पड़ चुके थे- फिर भी दिगंबर मत में इन आचार्य के वचन निःशंक भाव से 'आप्त वचन' माने गये हैं। हालाँकि उनके दिगंबर होने का एक भी प्रमाण उनके लिखे ग्रंथों में नहीं है। परन्तु उनके उत्कट त्याग, आगमानुसारी क्रियाधारकता और वन-निवास आदि गुणों के कारण दिगंबरों ने भी उन्हें अपनाया है।

वन में रहने के कारण जनसामान्य उन्हें और उनके शिष्य समुदाय को 'वनवासी' नाम से पहचानने लगा। **इस तरह वीर निर्वाण 700 के आसपास सोलहवीं पाट से निर्ग्रंथ गच्छ का चौथा नाम 'वनवासी गच्छ' हो गया।** ऐसा होने पर भी 'चांद्र कुल' नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध रहा । ऐसा तत्कालीन शास्त्रों से ज्ञात होता है।

पंचम नाम–बड़ गच्छ

भगवान महावीरस्वामी के 35वें पाट पर श्री उद्योतनसूरि हुए। उन्होंने मथुरा तीर्थ की अनेक बार और सम्मेतशिखर तीर्थ की पाँच बार यात्रा की थी। एक बार आबु तीर्थ की यात्रार्थ पधारे थे। तलहटी के टेली ग्राम की सीमा पर एक विशाल बड़ वृक्ष के नीचे बैठे थे। उसी समय आकाश में सुन्दर 'ग्रह योग' हुआ था। आचार्यश्री ने शुभ और बलवान ग्रहयोग को पहचाना और उसी समय विक्रम सं. 994 (वीर निर्वाण सं. 1464) में सर्वदेव प्रमुख आठ शिष्यों को आचार्यपद पर आरूढ़ किया। मतांतर से सर्वदेवसूरिजी को ही आचार्य पदवी दी।

तत्पश्चात्–'आपकी शिष्य संपदा इस वटवृक्ष की तरह फैलेगी।' यह आशीर्वाद देकर उद्योतनसूरिजी ने सपरिवार अजारी की ओर विहार किया। इस तरह बड़ के नीचे सूरिपद प्राप्त होने से उन आचार्यों का शिष्य परिवार 'बड़ गच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनमें भी सर्वदेव सूरिजी की लब्धि शिष्य संपदा के विषय में गौतमस्वामीजी जैसी थी। अतः उनका शिष्य परिवार बढ़ने लगा। उनकी परंपरा 'बृहद् गच्छ' अथवा 'बड़ गच्छ' के नाम से विशेष रूप से प्रकट हुई। **36वीं पाट से बना यह श्रमण परंपरा का पाँचवा नाम था। चांद्र कुल इस तरह से 'बड़ गच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।** जिसका प्रभाव एवं विस्तार पूर्वोक्त तीन गच्छ एवं तत्कालीन शाखा रूप में निकले अन्य गच्छों से विशेषतः ज्यादा था।

विक्रम की 11वीं शताब्दी तक के ग्रंथों में गच्छों के मतभेदों का उल्लेख नहीं मिलता जैसा हाल में अधिक मास में पर्युषणा, संवत्सरी, तिथि, सामायिक, पौषध, स्त्रियों द्वारा प्रभु पूजा, मुहपत्ति, स्तुति आदि विषय में मतभेद दिखते हैं।

विक्रम की 11वीं शताब्दी के बाद के गच्छ पहले बताये गए नागेन्द्र आदि गच्छों से भिन्न है। नवीन गच्छ कितनेक अंशों में सिद्धान्त भेद और क्रिया भेद आदि को लेकर अलग पड़े हैं। इस कारण इन गच्छों को प्राचीन गच्छों की कक्षा में नहीं रखे जा सकते हैं।

बड़ गच्छ के शासन काल में सामाचारी आदि को लेकर पुनमिया (विक्रम सं. 1159), चामुंडिक (वि. सं. 1144), खरतर (वि. सं. 1204)[1], अंचल गच्छ[2]

1. अचलगच्छ के शतपदी ग्रंथ (रचना काल सं. 1294) में भी खरतरगच्छ की उत्पत्ति (वेदाभ्रारुण काले 1204) का ही उल्लेख मिलता है।

(वि. सं. 1213), सार्ध पुनमिया (वि. सं. 1236), आगमिक (वि. सं. 1250) आदि गच्छ-मत निकले।[3]

---

2. इसी प्रकार से बीसवीं सदी में भी तपागच्छ में से ही शास्त्रीय[अ] एवं सुविहित पूर्वाचार्यों की परंपरा[ब] से चली आ रही चार स्तूति की मान्यता से भिन्न ऐसी त्रिस्तुतिक की मान्यता को लेकर श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी से बृहत्सौधर्मतपागच्छ के नाम से त्रिस्तुतिक मत निकला।
   अ) देखें-ललित विस्तरा, चैत्यंवदन भाष्य-संघाचार टीका, प्रतिक्रमण गर्भ हेतु आदि में चार स्तुति की शास्त्रियता।
   ब) देखें- प्रवचन सारोद्धार, सेन प्रश्न आदि में चार स्तुति विषयक पूर्वाचार्यों की सम्मति।
3. अभी पुनः शासन एकता हो सकती है!!! देखें परिशिष्ट 1

षष्ठ नाम - तपागच्छ

भगवान महावीर स्वामीजी की 43वीं पाट पर आचार्य श्री सोमप्रभसूरिजी तथा आचार्य श्री मणिरत्नसूरिजी हुये। 44वीं पाट पर आ. श्री मणिरत्नसूरिजी के शिष्य आचार्य श्री जगच्चंद्रसूरिजी हुए। वे परम संवेगधारी थे। यथासमय गुरु ने उन्हें आचार्यपद प्रदान किया। उन्होंने अपने गच्छ के साधुओं में शिथिलाचार का प्रवेश होता देख किसी त्यागी महात्मा की निश्रा में विशुद्ध चारित्र पालन द्वारा आत्महित का निर्णय किया। उन्हें चैत्र गच्छीय आचार्य भुवनचंद्रसूरिजी के शिष्य उपाध्याय देवभद्रगणि के त्याग और संवेग का पता चला।

गुरु की आज्ञा लेकर आ. श्री जगच्चंद्रसूरिजी ने उपा. श्री देवभद्रगणिजी की सहायता से विशुद्ध चारित्र और निरीह तप करना शुरु किया। आ. श्री जगच्चंद्र सूरिजी ने वि. सं. 1273 में उपा. श्री देवभद्रगणि और स्वशिष्य देवेन्द्रसूरिजी की सहाय से क्रियोद्धार किया। उसके बाद आ. श्री सोमप्रभसूरिजी का भीनमाल में और आ. श्री मणिरत्नसूरिजी का दो महीने पश्चात् थराद में स्वर्गवास हुआ।[1]

आ.श्री जगच्चंद्रसूरिजी और उपा.श्री देवभद्रगणि दोनों महात्मा परस्पर सहायक बनकर आराधना और प्रचार करते थे। जगच्चंद्रसूरिजी के तप त्याग का देवभद्र गणि पर बड़ा भारी असर था। वे जगच्चंद्रसूरिजी के उपसम्पदादाता होने पर भी उन्हें शिष्य स्थानीय न मानकर अनेक बातों में अपने गुरु-स्थानीय मानते थे। साथ में ही विचरते और एक ही सामाचारी का पालन करते थे, जो बड़ गच्छ की परंपरा में चल रही थी।[2] आ.श्री जगच्चंद्रसूरिजी ने यावज्जीव आयंबिल का

1. क्रियोद्धार के कुछ समय बाद ही आ. श्री जगच्चंद्रसूरिजी के दीक्षा गुरु आ. श्री मणिरत्न सूरिजी देवलोक हो चुके थे एवं क्रियोद्धार हेतु उपाध्याय श्री देवभद्रगणिजी की उपसंपदा में रहे हुए, होने से तत्कालीन ग्रंथों की प्रशस्ति में आ. जगच्चंद्रसूरिजी, उपा. देवभद्रगणिजी के शिष्य के रूप में उल्लिखित किये हुए मिलते हैं। जबकि उनकी गुरु-परंपरा का उल्लेख गुणरत्नसूरिकृत क्रियारत्नसमुच्चय, आ. मुनिसुंदरसूरिकृत गुर्वावली, तपागच्छ पट्टावली आदि अनेक ग्रंथों में स्पष्ट रूप से मिलता है।
   इस बात का ध्यान न होने से कुछ इतिहासकार विशेष अन्वेषण किये बिना आ. जगच्चंद्रसूरिजी को चैत्रवालगच्छीय ही मान बैठे हैं।
   जो सत्यान्वेषक होते हैं, उन्हें सत्य प्राप्त होता है। जैसे कि तपागच्छ का इतिहास भा.-1, खण्ड-1, पृ. 8 पर डॉ. शिवप्रसाद ने भी "**जगच्चंद्रसूरिजी चैत्र गच्छीय नहीं परंतु बृहद्गच्छीय ही थे,** ऐसी सिद्धि की है।"
2. **चैत्र गच्छ बड़गच्छ की ही शाखा थी।** देखिये परिशिष्ट-2

अभिग्रह धारण किया था।

पं. श्री खुशालविजयजी के कथनानुसार-आ. श्री जगच्चंद्रसूरिजी के क्रियोद्धार के समाचार से नाणावाल, कोरंटक, पिप्पलक, राज आदि अनेक शाखाधारी आचार्यों ने उन्हें शुद्ध संवेगी जानकर उनके द्वारा ही क्रियोद्धार करके उनकी आज्ञा का स्वीकार किया था। महामात्य श्री वस्तुपाल और तेजपाल के शत्रुंजय यात्रा संघ में आ. श्री जगच्चंद्रसूरिजी आदि 11 श्वेतांबर आचार्य थे। उनके द्वारा करायी गिरनार और आबु की प्रतिष्ठा में भी वे हाजर थे।

7. आ. श्री जगच्चंद्रसूरिजी विहारानुक्रम से सं. 1285 में मेवाड़ के आघाट नगर में (आयड़) पधारे। मेवाड़पति राणा जैत्रसिंह, सूरिजी के दर्शनार्थ पधारे। बारह वर्ष के आयंबिल के तप से तेजस्वी एवं शुद्ध चारित्र प्रभा से देदीप्यमान सूरिजी को राजा नतमस्तक होकर सहसा बोल उठे 'अहो! साक्षात् तपोमूर्ति हैं। चित्तौड़ाधीश राणा जैत्रसिंह ने (वीर निर्वाण सं. 1755) विक्रम संवत् 1285 में आ. श्री जगच्चंद्रसूरिजी को 'तपा' पदवी से अलंकृत किया[1]। तब से उनका शिष्य परिवार 'तपागच्छ' इस नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस सीसोदिया राजवंश ने भी तपागच्छ को अपना माना। **बाद में मेवाड़ के राजाओं की विज्ञप्तियाँ, नगरशेठों के कुटुम्बियों के साथ उनके सम्बन्ध और तपागच्छीय आचार्य और श्रीपूज्यों का आज तक होता सन्मान इस बात का साक्षी है।**

आचार्य जगच्चंद्रसूरि जैसे त्यागी तपस्वी थे वैसे ही विद्या निष्णात भी थे। उन्हें अजारी की सरस्वती देवी प्रत्यक्ष थी। उन्होंने आघाट के वाद के प्रसंग में 32 दिगंबर आचार्यों को जीत लिया था। इस कारण राणा जैत्रसिंह ने सूरिजी को वादियों के प्रति हीरे जैसे अभेद्य मानकर 'हीरला श्री जगच्चंद्रसूरि' नाम से संबोधित किया।

इस प्रकार श्रमण परंपरा ने वि. सं. 1285 से 'तपागच्छ' यह छट्ठा नाम धारण किया।

तपागच्छ में दीक्षा के समय नामकरण की विधि में 'दिग्-बंधन' अभी भी इस प्रकार होता है। - 'कोटिक गण-वयरीशाखा-चांद्रकुल'... एवं उनके आगे

1 तपा बिरुद प्राप्ति का सबसे प्राचीन उल्लेख उस घटना के साक्षी उनके ही शिष्य आ. देवेन्द्रसूरि जी के ग्रंथ में मिलता है।

क्रमात् प्राप्ततपाचार्येत्याख्या भिक्षुनायकाः।

समभूवन् कुले चान्द्रे श्री जगच्चन्द्रसूरयः। (आ. देवेन्द्रसूरिकृत कर्मग्रंथ टीका -प्रशस्ति)

गुरुओं के नाम। इस तरह गण-कुल-शाखा को ही याद करना यह प्राचीन श्रमण सामाचारी का द्योतक है। 'गच्छ' शब्द का उपयोग बाद में प्रचलित हुआ है। **'दिग्-बंधन' में 'तपागच्छ' का उल्लेख नहीं किया जाता है, इससे भी सूचित होता है कि 'तपागच्छ' यह नाम तो लोक प्रसिद्धि के कारण व्यवहार में रूढ हो गया है। फिर भी मौलिक विधान में तपागच्छीय श्रमण-परंपरा तो अपने आप को मूल नाम से ही संबोधित करती है। इससे ही सिद्ध होता है कि 'तपागच्छ' नया उत्पन्न नहीं हुआ है, परंतु मूल परंपरा का नामांतरण मात्र है।**

इस प्रकार सुधर्मास्वामी से चली श्रमणपरंपरा के छः नाम मुख्यरूप से माने जाते हैं-

1. निर्ग्रंथ, 2. कोटिकगण, 3. चान्द्रकुल, 4. वनवासी गच्छ, 5. बड़ गच्छ, 6. तपागच्छ।

ये नाम इन आचार्यों से क्रमशः प्रचलित हुए :-

1. सुधर्मास्वामीजी, 2. आर्यसुस्थितजी, 3. चंद्रसूरिजी, 4. समंतभद्र-सूरिजी, 5. सर्वदेवसूरिजी, 6. जगच्चंद्रसूरिजी।

इस तरह वि. सं. 1285 में 44वीं पाट के आ. जगच्चंद्रसूरिजी को तप गुण के प्रभाव से मिले 'तपा' बिरुद के कारण श्रमण परंपरा ने 'तपागच्छ' यह छट्ठा नाम धारण किया। **'नामकरण होना' और 'उत्पत्ति होना' दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है।**

नयी उत्पत्ति मूल परंपरा से कुछ मतभेद को लेकर होती है और वह मतभेद-मान्यता प्रायः उस गच्छ के नाम से जुड़ जाती है। अथवा वह गच्छ उस विशेष मान्यता से ही पहचाना जाने लगता है। जैसे कि -'इस गच्छ की तो यह मुख्य मान्यता है' इत्यादि। यह बात तपागच्छ के नाम में नहीं है। **तपागच्छ की पट्टावलियों में किसी एक आचार्य को आद्यपुरुष के रूप में नहीं बताया है। वर्तमान में भी तपागच्छ में किसी भी गुरु की महिमा इतनी विशेष रूप से नहीं गायी जाती है कि जिससे तीर्थंकरों से भी ज्यादा गुरुओं की बोलबाला हो जावे। बड़े आलिशान गुरु मंदिर आदि बनाकर उनमें तीर्थंकरों की नाममात्र स्थापना करना तपागच्छ में उपादेय नहीं माना जाता है**[1]। तपागच्छ के मंदिरों में प्रायः गौतमस्वामी एवं सुधर्मास्वामी की प्रतिमाएँ विशेष रूप से देखी जाती हैं। **अतः स्पष्ट है कि**

1 आजकल देखादेखी व अन्य गच्छों के गुरुमंदिरों का प्रचलन देख तपागच्छ में भी यह प्रचलन शुरु हो गया है... जो गलत है।

तपागच्छ किसी आचार्य से उत्पन्न नहीं हुआ, परंतु श्रमण महावीर स्वामी, गुरु गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी से चली आ रही अविच्छिन्न परंपरा का ही नामांतरण मात्र है।

आज भी परंपरा से चली आ रही योगोद्वहन की क्रियापूर्वक पदवीयाँ तपागच्छ में करायी जाती है।

तपागच्छ के इतिहास एवं उसकी मान्यता में किसी एक मान्यता विशेष का आग्रह नहीं है-पूर्वाचार्यों और शास्त्रों की वफादारी मात्र है। **अन्य गच्छों की पट्टावलियों[1] एवं ग्रंथों[2] में भी तपागच्छ की उत्पत्ति के लिये किसी मतभेद को कारण नहीं बताया गया है। इससे भी सिद्ध होता है कि 'तपागच्छ' तो केवल प्राचीन श्रमण परंपरा 'बड़ गच्छ' का नामांतरण है।** तपागच्छ की पट्टावलियों और इतिहास में श्री सुधर्मास्वामी से लेकर आज तक की आचार्य परंपरा का परस्पर विसंवाद रहित सुव्यवस्थित क्रम एवं अतिश्योक्ति रहित वर्णन मिलता है, वह भी इसी बात को प्रमाणित करता है।

तपागच्छ की पट्टावलियों में प्रायः पूर्वाचार्यों के दर्शन ज्ञान-चारित्र की आराधना एवं तप-त्याग की शुद्धि का ही मुख्य रूप से वर्णन है। प्रासंगिक जिन शासन की प्रभावना हेतु कोई चमत्कार करना पड़ा तो उसका वर्णन भी गौण रूप से मिलता है अर्थात् उस चमत्कार का भार देकर प्रचार नहीं किया गया है। **कहीं भी पूर्वाचार्यों के मंत्र-तंत्र एवं चमत्कारों को अथवा जाति-गोत्र आदि की स्थापना को महत्त्व न देना यह भी तपागच्छ की निःस्पृहता, निरीहता एवं शासन के प्रति समर्पण भाव को बताता है।**

अतः ''वि. सं. 1285 में तपागच्छ की उत्पत्ति हुई और अन्य गच्छ उससे भी पहले निकले'' यह मान्यता भ्रान्ति मात्र है, क्योंकि तपागच्छ तो पहले से चली आ रही श्रमण परंपरा ही है।

---

1. देखें खरतरगच्छ पट्टावली 2329 और 2333, पट्टावली पराग, पृ. 370/380
2. ''भगवान महावीर की अठारहवीं शताब्दी''
   जगच्चंद्रसूरि आपकी कठोर तपश्चर्या से मुग्ध बन चितौड़ के महाराणा ने तपा बिरुद दिया, जिसमें बडगच्छ का नाम तपागच्छ हुआ। **(कमजोर कड़ी कौन? पृ. 133- खरतरगच्छ के आचार्य जिनपीयूषसागरजी म.सा.)**

तपागच्छ के चमकते सितारे !!

जगच्चंद्रसूरिजी तक हुए पूर्व आचार्यों ने जो शासन सेवा की थी, वह अजोड़ थी और प्रायः सर्वजन विदित भी है। जगच्चंद्रसूरिजी के बाद हुए श्रमण भगवंतों ने भी जो साहित्य निर्माण, शासन सेवा तथा क्रियाशैथिल्य के उन्मूलन हेतु प्रयास किये हैं, उनका विस्तार से वर्णन करें तो एक नया ग्रंथ बन जाता है। उदाहरण के रूप में **देवेन्द्रसूरिजी** के कर्मग्रंथ, भाष्यत्रय, श्राद्ध दिनकृत्य, धर्मरत्न प्रकरण एवं वन्दारुवृत्ति, **धर्मघोषसूरिजी** का संघाचार भाष्य एवं श्राद्ध-जीतकल्प, **सोमप्रभ-सूरिजी** का यति जीतकल्प, **सोमतिलकसूरिजीकृत** बृहन्नव्यक्षेत्र समास, **गुणरत्नसूरिजी** का क्रियारत्न समुच्चय, षड्दर्शन समुच्चय बृहद्वृत्ति एवं क्षेत्र समास, **सोमसुन्दरसूरिजी** प्रतिष्ठित **राणकपुर तीर्थ** विश्व विख्यात है तथा आज भी इन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठित पंचधातु की सैकड़ों प्रतिमाजी भारतवर्ष के गाँव-गाँव व नगर-नगर में मिलते हैं। **मुनिसुंदरसूरिजी** का संतिकरं-स्तोत्र, अध्यात्म कल्पद्रुम, **रत्नशेखरसूरिजी** का श्राद्धविधि, कर्माशाह द्वारा किये गये श्री शत्रुंजय महातीर्थ के 16वें उद्धार के मुख्य प्रतिष्ठाचार्य **आ. श्री विद्यामंडन सूरिजी** द्वारा वर्तमान के तीर्थाधिपति श्री आदिनाथ प्रभु की अंजनशलाका एवं प्रतिष्ठा, **हीरविजयसूरिजी** द्वारा अकबर को प्रतिबोध कर अमारि प्रवर्तन, **शांतिचंद्रोपाध्यायजी** की जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति टीका, अवधूत योगी **आनंदघनजी महाराज** के अध्यात्मिक पद तथा चौवीशी जो अत्यंत प्रसिद्ध है।[1] **महो. विनयविजयजी** के शांतसुधारस, लोकप्रकाश, श्रीपाल रास आदि ग्रंथ तथा लघु हरिभद्र के नाम से प्रसिद्ध **महो. यशोविजयजी** के अत्यन्त उपादेय ग्रंथों की सूचि तो बहुत लंबी है, जिसमें से कई तो लुप्त हो गये हैं, फिर भी कई ग्रंथ वर्तमान में उपलब्ध हैं, जिनकी महत्ता सर्वजन प्रसिद्ध है।

---

1. तपागच्छ में अवधूत योगी आनंदघनजी महाराज का एक गौरवपूर्ण विशिष्ट स्थान है। वे पं. परमानन्दगणिजी के शिष्य थे एवं क्रियोद्धारक पं. सत्यविजयजी के लघुभ्राता थे। महो. यशोविजयजी भी अध्यात्म के विषय में आनंदघनजी से अत्यंत प्रभावित थे। उन्होंने अष्टपदी स्तुति की रचना करके आनंदघनजी के प्रति श्रद्धांजली अर्पित की है। ज्ञानविमलसूरिजी ने भी आनंदघनजी के स्तवनों पर टबा वगैरह की रचना की है। (आधार - सम्मेतशिखर रास-पं. रंगविमलगणिजी, वि.सं. 1927, जैन परंपरानो इतिहास, भाग-4, पृ. 467)

देवेन्द्रसूरिजी की क्रिया-चुस्तता, अंचलगच्छ की पट्टावली में भी (महेन्द्रसूरिजी के वर्णन के समय में) प्रशंसी गयी है। उसी तरह सोमसुंदरसूरिजी, हेमविमलसूरिजी, पं. सत्यविजयजी ने भी शिथिलाचार के उन्मूलन हेतु विशिष्ट क्रियोद्धार किये थे।

विशेष: पिछले 150 साल में इस परंपरा के विजयानंदसूरिजी (आत्मारामजी), सिद्धिसूरिजी, नेमिसूरिजी, बुद्धिसागरजी, नीतिसूरिजी, सागरानन्दसूरिजी, मोहनलालजी, वल्लभसूरिजी, लब्धिसूरिजी, प्रेमसूरिजी, विजयधर्मसूरिजी, रामचंद्रसूरिजी, हिमाचलसूरिजी, रामसूरिजी (डेहलावाला), भुवनभानुसूरिजी, कलापूर्णसूरिजी आदि अनेक प्रभावक आचार्यों ने साहित्य निर्माण, श्रमण निर्माण, तीर्थ रक्षा, श्रुतरक्षा, श्रुत पुनरोद्धार, तीर्थोद्धार, श्रावक जागृति आदि अनेक क्षेत्रों में शासन की महती सेवा की है। जिनशासन में मैत्री भाव, नवकार महामंत्र आराधना, आयम्बिल-तप तथा अध्यात्म की नयी चेतना को जगानेवाले, अध्यात्मयोगी पं. भद्रंकरविजयजी भी इसी परंपरा में हुए हैं।

इसी तरह श्रुत ज्ञान की अनुपम भक्ति करने वाले आगमप्रभावक पुण्यविजयजी एवं जंबूविजयजी तथा जैन इतिहास को विशेष प्रकार से लाने वाले बंधुत्रिपुटी (दर्शनविजयजी म., ज्ञानविजयजी म., न्यायविजयजी म.) एवं इतिहासवेत्ता पं. कल्याणविजयजी म. भी इसी परंपरा के महापुरुष थे ।

वर्तमान में भी प्रायः 10 हजार से भी अधिक श्रमण-श्रमणी भगवंत जिनशासन की अनुपम सेवा कर रहे हैं।

तपागच्छ के अभ्युदय सूचक भिन्न-भिन्न देव वाणियाँ

1. विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के आरंभ में **शासन देवी** ने महम्मद खीलजी के मांडवगढ़ के भंडारी एवं तत्रस्थ सुपार्श्वनाथ मंदिर आदि के निर्माता, **कवीन्द्र संग्राम सोनी के पूर्वज सांगण सोनी को बताया कि** ' हे सांगण ! **भारतवर्ष में उत्तमोत्तम गुरु आचार्य श्री देवेन्द्रसूरि हैं,** उनका मुनिवंश विस्तारित होगा और युगपर्यंत चलेगा। तुम इन गुरु की सेवा करो । (गुर्वावली, श्लोक- 138)

2. विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में खरतरगच्छीय आचार्यवर्य श्री जिनप्रभसूरिजी को पद्मावती देवी ने प्रत्यक्ष होकर तपागच्छ के अभ्युदय के विषय में बताया, जो निम्न प्रकार है।

'पुरा श्री जिनप्रभसूरिभिः प्रतिदिनं नव-स्तवनिर्माणपुरस्सर-निरवद्याहार ग्रहणाभिग्रहवद्भिः प्रत्यक्षपद्मावतीदेवीवचसाऽभ्युदयिनं श्री तपागच्छं विभाव्य भगवतां श्री सोम-तिलकसूरीणां स्वशैक्षशिष्यादिपठन विलोकनाद्यर्थं यमकश्लेष चित्रछन्दो-विशेषादि-नव-नवभङ्गी-सुभगाः सप्तशतमिताः स्तवा उपदीकृता निजनामाङ्कितास्तेष्वयं सर्वसिद्धान्तस्तवो बहूपयोगित्वाद्विव्रियते। ('आ. जिनप्रभसूरि रचित सर्वसिद्धांतस्तव की श्रीसोमोदयगणि कृत अवचूरिः)

आ. श्री जिनप्रभसूरिजी खरतरगच्छ के महान प्रभावक एवं विद्वान आचार्य थे। वि. सं. 1331 में उन्होंने लघुखरतर शाखा की स्थापना की थी। सर्व सिद्धान्त- स्तव की अवचूरि के अनुसार आचार्यश्री को रोज नये स्तव का निर्माण करने के बाद ही आहार ग्रहण करने का नियम था। वे मान्त्रिक भी थे, डीसा के पास जघराल गाँव में उनका मिलन आचार्य श्री सोमतिलकसूरिजी से हुआ। एक चूहे ने आ. श्री सोमतिलकसूरिजी की झोली काट दी। आ. श्री जिनप्रभसूरिजी ने मंत्रप्रभाव से सभी चूहों को बुलाया-जिस चूहे ने झोली काटी थी उसे उपदेश देकर विदा किया। उनको पद्मावती देवी प्रत्यक्ष थी। **देवी के वचन से 'आगे जाकर तपागच्छ का उदय होगा।' यह जानकर उन्होंने अपने बनाये हुए 700 स्तोत्र तपागच्छ के आचार्य श्री सोमतिलकसूरिजी को अर्पण किये। आ. भ. श्री जिनप्रभसूरिजी द्वारा अपने स्तोत्रों को अर्पण करना उनका गुणानुराग, मध्यस्थभाव और शासनभक्ति को सूचित करता है।**

3. श्री माणिभद्रवीर ने आ. श्री विजयदानसूरिजी को स्वप्न में बताया कि 'आपके गच्छ का मैं कुशल-क्षेम करूंगा। आपकी पाट पर 'विजय शाखा स्थापन करना।' (पं. खुशालविजयजी भाषा-पट्टावली सं. 1889 जेठ वद 13, शुक्रवार, सिरोही)

हम देख सकते हैं कि इन जैन शासन संरक्षक और हितवादी देव-देवियों का कथन अब तक निरपवाद सच पड़ा है।

महोपाध्याय यशोविजयजी के वचन

इस अभ्युदय एवं अविरत रूप से चलने का रहस्य क्या है? स्याद्वाद के गूढ रहस्य-ज्ञाता, तटस्थ विद्वान शिरोमणी, न्यायविशारद महोपाध्याय यशोविजयजी के वचनों से उसका रहस्य पता चलता है। श्री सीमंधर स्वामी भगवान के 350 गाथा के स्तवन की 16वीं ढाल में वे फरमाते हैं-

'शास्त्र अनुसार जे नवि हठे ताणिये ।
नीती तपगच्छनी ते भली जाणिये।।
जीत दाखे जीहां समय सारू बुधा।
नाम ने ठाम कुमते नहि जस मुधा ।।18।।

नाम निर्ग्रंथ छे प्रथम एहनु कह्यु।
प्रथम अड पाट लगे गुरु गुणे संग्रह्युं।
मंत्र कोटी जपी नवम पाटे यदा।
तेह कारण थयुं नाम कोटिक तदा ।।19।।

पंदरमें पाटे श्री चंद्रसूरे कर्यु।
चंद्रगच्छ नाम निर्मल पणे विस्तर्यु।।
सोलमें पाट वनवास निर्मम मति।
नाम वनवासी सामन्तभद्रो यति ।।20।।

पाट छत्रीस में सर्वदेवाभिधा।
सूरि बड़ गच्छ तिहां नाम श्रावणे सुधा।
बड़ तले सूरिपद आपीओ ते वती।
वलीय तस बहु गुणे जेह वाध्यो अति ।।21।।

सूरि जगच्चंद्र जग समरस चंद्रमा।
जेह गुरु पाटे चउ अधिक चालीसमा।।
तेह पाम्यु 'तपा' नाम बहु तप करी।
प्रगट आघाटपुरी* विजय कमला वरी ।।22।।

एह षट् नाम गुण ठाम तप गण-तणा।
शुद्ध सद्दहण गुण रयण एहमां घणा।

---

* आघाटपुरी = आयडतीर्थ (उदयपुर-राज.)

एह अनुगत परंपर भणी सेवता।
ज्ञान योगी विबुध प्रगट जग-देवता ।।23।।

अठारहवीं गाथा से फरमाते हैं कि **तपगच्छ की नीति सुन्दर हैं क्यों कि तपागच्छ में सूत्र के अनुसार विचार करने की रीत चलती है। कहीं पर भी अपनी बुद्धि अथवा अहम् के वश होकर किसी विषय में हठाग्रह नहीं है।** पूर्व में अशठ, भवभीरु, गीतार्थ आचार्य भगवंतों ने आचरण किया हो, अन्य बहु गीतार्थों ने जिसका निषेध नहीं किया हो **ऐसी जीत आचरणा को तपागच्छ वफादार रहता है। इस प्रकार पूर्वाचार्यों के प्रति वफादारी, समर्पणता के भाव से उत्पन्न होनेवाले पुण्य के बल से तपागच्छ अविरत चल रहा है। पूर्व महापुरुषों के प्रति बहुमान भाव से विशिष्ट पुण्य का उदय होता है।**

उपसंहार

इस लेख से अब स्पष्ट हो गया होगा कि प्रभु वीर की श्रमण परंपरा और तपागच्छ एक ही है। स. 1285 में तो मूल श्रमण परंपरा का ही ''तपागच्छ'' यह नामकरण हुआ था । तपागच्छ नया उत्पन्न नहीं हुआ है।

प्रभु वीर की श्रमण परंपरा के नामकरणों के गौरववंत इतिहास को, तटस्थता पूर्वक ऐतिहासिक ग्रंथों एवं पट्टावलीयों के आधार से संक्षेप से प्रगट करने का प्रयास यहाँ पर किया गया है। सत्यान्वेषी विचारकों को तटस्थतापूर्वक इस लेख पर चिंतन-मनन करने से ऐतिहासिक सत्य को जानने की नयी दिशा प्राप्त होगी एवं श्रद्धालु जनों को गुणगरिमायुक्त गौरववंती गुरु परंपरा पर श्रद्धाभक्ति विकसित होगी, ऐसी आशा है।

जिनाज्ञा विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो

मिच्छामि-दुक्कडम्

परिशिष्ट–1

शासन एकता!!!

गच्छभेद के लिए जो मुख्य सामाचारी एवं मान्यता भेद कारण रूप में थे वे प्रायः अभी विद्यमान नहीं है। जैसे कि खरतरगच्छ में स्त्री पूजा एवं उबले हुए पानी को लेने की प्रवृत्ति की प्रचलना नहीं थी तथा अंचलगच्छ में श्रावक की सामायिक में मुंहपत्ति रखने की एवं साधु द्वारा प्रतिष्ठा विधान की मान्यता नहीं थी। जबकि वर्तमान में सभी मूर्तिपूजक गच्छों में स्त्री पूजा, श्रावकों का सामायिक में मुखवस्त्रिका का रखना, साधु द्वारा प्रतिष्ठा विधान, उबला हुआ पानी लेना आदि आमतौर से प्रचलित है।

अतः अभी पुनः खरतरगच्छ, अंचलगच्छ एवं तपागच्छ में **एकता** हो सके, ऐसा वातावरण मौजुद है। जरुरत है, केवल पूर्व की मान्यताओं और परस्पर के प्रति बंधी हुई ग्रंथिओं को तोड़ने की एवं छोटी–छोटी सामाचारिओं को गौण करते हुए, अपनी पद–प्रतिष्ठा एवं भक्तों के ममत्व को छोड़ने की।

उसी तरह तपागच्छ में भी एक तिथि–दो तिथि की **एकता** स्थापित करना एवं तीन थुई–चार थुई का समाधान भी अत्यंत जरुरी है।

ये प्रयास अगर सफल हो जावे तो श्वेतांबर मूर्तिपूजक समाज एक हो जायेगा एवं क्रमशः संपूर्ण श्वेतांबर समाज को एक करने का तथा तत्पश्चात् सम्पूर्ण जैन संघ को एक करने के सपने साकार हो सकेंगे।

परिशिष्ट-2

चैत्र गच्छ और बड़गच्छ

चैत्र गच्छ बड़ गच्छ की ही शाखा थी। चैत्रपुर नगर में महावीर स्वामीजी की धामधूम से प्रतिष्ठा करवाने के कारण धनेश्वरसूरिजी की शिष्य परंपरा चैत्र गच्छीय नाम से कहलाने लगी। धनेश्वरसूरिजी ने 70 दिगंबर साधुओं को प्रतिबोध करके दीक्षा दिलायी थी। चैत्र गच्छीय उपा. देवभद्रगणिजी की गुरु परंपरा एवं आ. जगत्‌चंद्रसूरिजी की गुरु परंपरा आगे जाकर एक हो जाती है। अतः स्पष्ट है कि दोनों बड़गच्छ के ही थे। दोनों की गुरु परंपरा निम्नोक्त है।

पाट परंपरा नं.		आचार्य	
35	-	आ. श्री उद्योतनसूरिजी	
36	-	आ. श्री सर्वदेवसूरिजी (बड़ गच्छ नाम करण)	
37	-	आ. श्री देवसूरिजी	
38	-	आ. श्री सर्वदेवसूरिजी (द्वितीय) उनके यशोभद्रसूरि आदि 8 शिष्य थे जिनमें	
39	-	1. आ. **श्री यशोभद्रसूरि,** 2. आ. **श्री नेमिचंद्रसूरि** आदि..	39 - 8वें आ. श्री **धनेश्वरसूरिजी** **(चैत्र गच्छ इनसे शुरु हुआ)**
40	-	आ. श्री मुनिचंद्रसूरिजी	40 - आ. **श्री भुवनचंद्रसूरि जी**
41	-	आ. श्री अजितदेवसूरिजी	41 - उपा. **श्री देवभद्रगणिजी**
42	-	आ. सिंहसूरिजी	
43	-	**आ. श्री सोमप्रभसूरिजी, आ. श्री मणिरत्नसूरिजी**	
44	-	आ. **श्री जगत्‌चंद्रसूरिजी**	

परिशिष्ट–3

क्रांतिकारक तपागच्छ के आचार्य जगच्चन्द्रसूरिजी म.सा.

प्रतिष्ठा–विधियों में क्रान्ति का प्रारंभ

प्रतिष्ठा–विधियों में लगभग चौदहवीं शती से क्रांति आरंभ हो गयी थी। बारहवीं शती तक प्रत्येक प्रतिष्ठाचार्य विधि–कार्य में सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श और सुवर्ण मुद्रादि धारण अनिवार्य गिनते थे, परंतु तेरहवीं शती और उसके बाद के कतिपय सुविहित आचार्यों ने प्रतिष्ठा–विषयक कितनी ही बातों के सम्बन्ध में ऊहापोह किया और त्यागी गुरु को प्रतिष्ठा में कौन–कौन से कार्य करने चाहिए इसका निर्णय कर नीचे मुजब घोषणा की—

''थुइदाण 1. मंतनासो 2; आह्वाणं तह जिणाणं 3 दिसिबंधो 4।
नित्तुम्मीलण 5 देसण, 6 गुरु अहिगारा इहं कप्पे।।''

अर्थात्–'स्तुतिदान याने देववन्दन करना स्तुतियाँ बोलना 1, मन्त्रन्यास अर्थात् प्रतिष्ठाप्य प्रतिमा पर सौभाग्यादि मंत्रों का न्यास करना 2, प्रतिमा में आह्वान करना 3, मन्त्र द्वारा दिग्बंध करना 4, नेत्रोन्मीलन याने प्रतिमा के नेत्रों में सुवर्णशलाका से अंजन करना 5, प्रतिष्ठाफल प्रतिपादक देसना (उपदेश) करना 6। प्रतिष्ठा–कल्प में उक्त छः कार्य गुरु को करने चाहिए।'

अर्थात्– इनके अतिरिक्त सभी कार्य श्रावक के अधिकार के हैं। यह व्याख्या निश्चित होने के बाद सचित्त पुष्पादि के स्पर्श वाले कार्य त्यागियों ने छोड़ दिये और गृहस्थों के हाथ से होने शुरु हुए। परन्तु पन्द्रहवीं शती तक इस विषय में दो मत तो चलते ही रहे, कोई आचार्य–विधिविहित अनुष्ठान गिन के सचित्त जल, पुष्पादि का स्पर्श तथा स्वर्णमुद्रादि धारण निर्दोष गिनते थे, तब कतिपय सुविहित आचार्य उक्त कार्यों को सावद्य गिन के निषेध करते थे। इस वस्तुस्थिति का निर्देश आचार–दिनकर में नीचे लिखे अनुसार मिलता है–

''ततो गुरुर्नवजिनबिम्बस्याग्रतः मध्यमांगुलीद्वयोर्ध्वीकरणेन रौद्रदृष्ट्या तर्जनीमुद्रां दर्शयति। ततो वामकरेण जलं गृहीत्वा रौद्रदृष्ट्या बिम्बमाछोटयति। केषांचिन्मते स्नात्रकारा वामहस्तोदकेन प्रतिमामाछोटयन्ति।'(252)

अर्थात् –उसके बाद गुरु नवीन जिनप्रतिमा के सामने दो मध्यमांगुलियां खड़ी करके क्रूर दृष्टि से तर्जनी मुद्रा दिखायें और बायें हाथ में जल लेके रौद्र दृष्टि करके प्रतिमा पर छिड़कें। किन्हीं आचार्यों के मत से बिम्ब पर जल छिड़कने का कार्य स्नात्रकार करते हैं। वर्धमानसूरि के 'केषाञ्चिन्मते' इस वचन से ज्ञात होता है कि उनके समय में अधिकांश आचार्यों ने सचित जलादि–स्पर्श के कार्य छोड़ दिये थे और सचित्त जल पुष्पादि सम्बन्धी कार्य स्नात्रकार करते थे।

इस क्रान्ति के प्रवर्तक कौन ?

यहां यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि प्रतिष्ठा–विधि में इस क्रांति के आद्यस्रष्टा कौन होंगे ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पहले हमको बारहवीं तेरहवीं शती की प्रतिष्ठाविषयक मान्यता पर दृष्टिपात करना पड़ेगा। बारहवीं शती के आचार्य श्री चन्द्रप्रभसूरि ने पौर्णमिक मत प्रवर्तन के साथ ही 'प्रतिष्ठा द्रव्यस्तव होने से साधु के लिए कर्त्तव्य नहीं' ऐसी उद्घोषणा की। उसके बाद तेरहवीं शती में आगमिक आचार्य श्री तिलकसूरि ने नव्य प्रतिष्ठाकल्प की रचना करके प्रतिष्ठा–विधि के सभी कर्त्तव्य श्रावक–विधेय ठहरा के चन्द्रप्रभसूरि की मान्यता को व्यवस्थित किया। **इस कृति से भी हम चन्द्रप्रभ और श्री तिलक को प्रतिष्ठा–विधि के क्रान्तिकारक कह नहीं सकते, किन्तु इन दोनों आचार्यों को हम 'प्रतिष्ठा–विधि के उच्छेदक' कहना पसंद करेंगे।** क्योंकि आवश्यक संशोधन के बदले इन्होंने प्रतिष्ठा के साथ का साधु का सम्बन्ध ही उच्छिन्न कर डाला है।

क्रान्तिकारक तपागच्छ के आचार्य जगच्चन्द्रसूरि :

उपाध्याय श्री सकलचन्द्रजी ने अपने प्रतिष्ठाकल्प में श्री जगच्चन्द्रसूरि कृत 'प्रतिष्ठा–कल्प' का उल्लेख किया है। हमने जगच्चन्द्रसूरि का प्रतिष्ठा कल्प देखा नहीं है, फिर भी सकलचन्द्रोपाध्याय के उल्लेख का कुछ अर्थ तो होना ही चाहिए। **हमारा अनुमान है कि त्यागी आचार्य श्री जगच्चन्द्रसूरिजी ने प्रचलित प्रतिष्ठा–विधियों में से आवश्यक संशोधन करके तैयार किया हुआ संदर्भ अपने शिष्यों के लिए रखा होगा।** आगे जाकर तपागच्छ के सुविहित श्रमण उसका उपयोग करते होंगे और वही जगच्चन्द्रसूरि के प्रतिष्ठाकल्प के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। उसी संशोधित संदर्भ को विशेष व्यवस्थित करके आचार्य श्री गुणरत्नसूरिजी तथा श्री विशालराज शिष्य ने प्रतिष्ठा–कल्प के नाम से प्रसिद्ध किया ज्ञात होता है।

समयोचित परिवर्तन किये और विधान विशेष सम्मिलित किये हुए प्रतिष्ठाकल्प में गुरु को क्या-क्या कार्य करने और श्रावक को क्या-क्या, इसका पृथक्करण करके विधान विशेष सुगम बनाये हैं।

गुणरत्नसूरिजी अपने प्रतिष्ठा-कल्प में लिखते हैं-

'थुइदाण-मंतनासो, आहवणं तह जिणाण दिसिबंधो।
नेत्तुम्मीलणदेसण, गुरु अहिगारा इहं कप्पे ।।1।।'

'एतानि गुरुकृत्यानि, शेषाणि तु श्राद्धकृत्यानि इति तपागच्छ-सामाचारी-वचनात् सावद्यानि कृत्यानि गुरोः कृत्यतयाऽत्र नोक्तानि'

अर्थात्-''थुइदाण इत्यादि गुरु कृत्य हैं तब शेष प्रतिष्ठा सम्बन्धी सर्व कार्य श्रावक कर्त्तव्य हैं।'' इस प्रकार की तपागच्छ की सामाचारी के वचन से इसमें जो जो सावद्य कार्य हैं वे गुरु-कर्त्तव्यतया नहीं लिखे, इसी कारण से श्री गुणरत्नसूरिजी ने तथा विशालराज शिष्य ने अपने प्रतिष्ठा-कल्पों में दी हुई प्रतिष्ठासामग्री की सूचियों में कंकण तथा मुद्रिकाओं की संख्या 4-4 की लिखी है और साथ में यह भी सूचन किया है कि ये कंकण तथा मुद्रिकाएँ 4 स्नात्रकारों के लिए हैं। उपाध्याय सकलचन्द्रजी ने अपने कल्प में कंकण तथा मुद्राएँ 5-5 लिखी हैं; इनमें से 1-1 इन्द्र के लिए और 4-4 स्नात्रकारों के लिए समझना चाहिए।

अन्य गच्छीय प्रतिष्ठा-विधियों में आचार्य को द्रव्य पूजाधिकार-विधिप्रपाकर श्री जिनप्रभसूरिजी लिखते हैं-

''तदनन्तरमाचार्येण मध्यमांगुलीद्वयोर्ध्वीकरणेन बिम्बस्य तर्जनी-मुद्रा रौद्र दृष्ट्या देया। तदनन्तरं वामकरे जलं गृहीत्वा आचार्येण प्रतिमा आछोटनीया। ततश्चन्दनतिलकं, पुष्पपूजनं च प्रतिमायाः।''

अर्थात्-उसके बाद आचार्य को दो मध्यमा अंगुलियां ऊँची उठाकर प्रतिमा को रौद्र दृष्टि से तर्जनी मुद्रा देनी चाहिये, बाद में बायें हाथ में जल लेकर क्रूर दृष्टि से प्रतिमा पर छिड़के और अन्य में चन्दन का तिलक और पुष्प पूजा करें।

इसी विधिप्रपागत प्रतिष्ठा-पद्धति के आधार से लिखी गई अन्य खरतरगच्छीय प्रतिष्ठा-विधि में उपर्युक्त विषय में नीचे लिखा संशोधन हुआ दृष्टिगोचर होता है-

''पछइ श्रावक डाबइ हाथिइं प्रतिमा पाणीइं छांइट।''

खरतरगच्छीय प्रतिष्ठाविधिकार का यह संशोधन तपागच्छ के संशोधित प्रतिष्ठा–कल्पों का आभारी है। उत्तरवर्ती तपागच्छीय प्रतिष्ठा–कल्पों में जलाछोटन तथा चन्दनादि पूजा श्रावक के हाथ से ही करने का विधान हुआ है जिसका अनुसरण उक्त विधिलेखक ने किया है।

आज के कतिपय अनभिज्ञ प्रतिष्ठाचार्यः

आज हमारे प्रतिष्ठाकारक गण में कतिपय प्रतिष्ठाचार्य ऐसे भी हैं कि प्रतिष्ठा–विधि क्या चीज होती है, इसको भी नहीं जानते। विधिकारक श्रावक जब कहता है कि 'साहिब वासक्षेप करिये' तब प्रतिष्ठाचार्य साहब वासक्षेप कर देते हैं। प्रतिमाओं पर अपने नाम के लेख खुदवा करके नेत्रों में सुरमे की शलाका से अंजन किया कि अंजनशलाका हो गई। मुद्रा, मन्त्रन्यास, होने न होने की भी प्रतिष्ठाचार्य को कुछ चिन्ता नहीं। उनके पास क्रियाकारक रूप प्रतिनिधि तो होता ही है, जब प्रतिष्ठाचार्य प्रतिष्ठाविधि को ही नहीं जानता तब तद्गत स्वगच्छ की परम्परा के ज्ञान की तो आशा ही कैसी ?

प्रतिमाओं में कला–प्रवेश क्यों नहीं होता ? :

लोग पूछा करते हैं कि पूर्वकालीन अधिकांश प्रतिमाएँ सातिशय होती है तब आजकल की प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ प्रभाविक नहीं होतीं, इसका कारण क्या होगा ? पहिले से आजकल विधि–विषयक प्रवृत्तियां तो बढ़ी हैं, फिर आधुनिक प्रतिमाओं के कला–प्रवेश नहीं होता इसका कुछ कारण तो होना ही चाहिए।

प्रश्न का उत्तर यह है कि आजकल की प्रतिमाओं में सातिशयिता न होने के अनेक कारणों में से कुछ ये हैं–

1. प्रतिमाओं में लाक्षणिकता होनी चाहिए जो आज की अधिकांश प्रतिमाओं में नहीं होती। केवल चतुःसूत्र वा पंचसूत्र मिलाने से ही प्रतिमा अच्छी मान लेना पर्याप्त नहीं है। प्रतिमाओं की लाक्षणिकता की परीक्षा बड़ी दुर्बोध है, जो हजार में से एक दो भी मुश्किल से जानते होंगे।
2. जिन प्रतिष्ठा–विधियों के आधार से आजकल अंजनशलाकाएँ कराई जाती हैं, वे विधि–पुस्तक अशुद्धि–बहुल होते हैं। विधिकार अथवा प्रतिष्ठाकार ऐसे होशियार नहीं होते जो अशुद्धियों का परिमार्जन कर शुद्ध विधान करा

सकें। जैसा पुस्तक में देखा वैसा बोल गये और विधि-विधान हो गया। विधिकार भले ही 'परमेश्वर के स्थान' पर 'परमेश्वरी' की क्षमा मांग कर बच जाय, पर अयथार्थ अनुष्ठान कभी सफल नहीं होता।

3. **प्रतिष्ठाचार्य और स्नात्रकार-**

विधिकार पूर्ण सदाचारी और धर्मश्रद्धावान् होने चाहिए। आज के प्रतिष्ठाचार्यों और स्नात्रकारों में ऐसे विरल होंगे। इनका अधिकांश तो स्वार्थसाधक और महत्त्वाकांक्षी है, कि जिनमें प्रतिष्ठाचार्य होने की योग्यता ही नहीं होती। स्नात्रकारों में पुराने अनुभवी स्नात्रकार अवश्य अच्छे मिल सकते हैं। उनमें धर्म-श्रद्धा, सदाचार और अपेक्षाकृत निःस्वार्थता देखने में आती है, पर ऐसों की संख्या अधिक नहीं है। मारवाड़ में तो प्रतिष्ठा के स्नात्रकारों का बहुधा अभाव ही है। कहने मात्र के लिए प्रतिष्ठाचार्य का और स्नात्रकारों का काम अवश्य करते हैं। परन्तु इनमें प्रतिष्ठाचार्य की शास्त्रोक्त योग्यता नहीं होती, स्नात्रकारों के लक्षण तक नहीं होते। ऐसे प्रतिष्ठाचार्यों और स्नात्रकारों के हाथ से प्रतिष्ठित प्रतिमाओं में कलाप्रवेश की आशा रखना दुराशामात्र है।

4. स्नात्रकार अच्छे होने पर भी प्रतिष्ठाचार्य की अयोग्यता से प्रतिष्ठा अभ्युदयजननी नहीं हो सकती, क्योंकि प्रतिष्ठा के, तंत्रवाहकों में प्रतिष्ठाचार्य मुख्य होता है। योग्य प्रतिष्ठाचार्य शिल्पी तथा इन्द्र सम्बन्धी कमजोरियों को सुधार सकता है, पर अयोग्य प्रतिष्ठाचार्य की खामियां किसी से सुधर नहीं सकती। इसलिये अयोग्य प्रतिष्ठाचार्य के हाथों से हुई प्रतिमा प्रतिष्ठा अभ्युदयजनिका नहीं होती।

5. प्रतिष्ठा की सफलता में शुभ समय भी अनन्य शुभसाधक हैं। अच्छे से अच्छे समय में की हुई प्रतिष्ठा उन्नतिजनिका होती है। अनुरूप समय में बोया हुआ बीज उगता है, फूलता, फलता है और अनेक गुनी समृद्धि करता है। इसके विपरीत अवर्षण काल में धान्य बोने से बीज नष्ट होता है और परिश्रम निष्फल जाता है, इसी प्रकार प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए। ज्योतिष का रहस्य जानने वाले और अनभिज्ञ प्रतिष्ठाचार्य के हाथ से एक ही मुहूर्त में होने वाली प्रतिष्ठाओं की सफलता में अन्तर पड़ जाता है। जहाँ शुभ लग्न षड्वर्ग अथवा शुभ पंचवर्ग में और पृथ्वी अथवा जल तत्त्व में प्रतिष्ठा होती है वहाँ वह अभ्युदय-जनिका होती है, तब जहा उसी लग्न में नवमांश, षड्वर्ग,

पंचवर्ग तथा तत्त्वशुद्धि न हो ऐसे समय में प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है तो वह प्रतिष्ठा उतनी सफल नहीं होती।

6. प्रतिष्ठा के उपक्रम में अथवा बाद में भी प्रतिष्ठा-कार्य के निमित्तक अपशकुन हुआ करते हैं तो निर्धारित मुहूर्त में प्रतिष्ठा जैसे महाकार्य न करने चाहिए, क्योंकि दिनशुद्धि और लग्नशुद्धि का सेनापति 'शकुन' माना गया है। सेनापति की इच्छा के विरुद्ध जैसे सेना कुछ भी कर नहीं सकती, उसी प्रकार शकुन के विरोध में दिनशुद्धि और लग्नशुद्धि भी शुभ फल नहीं देती। इस विषय में व्यवहार-प्रकाशकार कहते हैं–

''नक्षत्रस्य मुहूर्त्तस्य, तिथेश्च करणस्य च।
चतुर्णामपि चैतेषां शकुनो दण्डनायकः।।1।।

अर्थात्–नक्षत्र, मुहूर्त, तिथि और करण इन चार का दण्डनायक अर्थात् सेनापति शकुन है।

आचार्य लल्ल भी कहते हैं-

''अपि सर्वगुणोपेतं, न ग्राह्यं शकुनं विना।
लग्नं यस्मान्निमित्तानां, शकुनो दण्डनायकः।।1।।''

अर्थात् – भले ही सर्व-गुण-सम्पन्न लग्न हो पर शुभ शकुन बिना उसका स्वीकार न करना। क्योंकि नक्षत्र, तिथ्यादि निमित्तों का सेनानायक शकुन है। यही कारण है कि वर्जित शकुन में किये हुए प्रतिष्ठादि शुभ कार्य भी परिणाम में निराशाजनक होते हैं।

7. **प्रतिष्ठाचार्य, स्नात्रकार और प्रतिमागत गुण दोषः**

उक्त त्रिकगत गुण-दोष भी प्रतिष्ठा की सफलता और निष्फलता में अपना असर दिखाते हैं, यह बात पहिले ही कही जा चुकी है और शिल्पी की सावधानी या बेदरकारी भी प्रतिष्ठा में कम असरकारक नहीं होती। शिल्पी की अज्ञता तथा असावधानी के कारण से आसन, दृष्टि आदि यथा-स्थान नियोजित न होने के कारण से भी प्रतिष्ठा की सफलता में अन्तर पड़ जाता है।

8. अविधि से प्रतिष्ठा करना यह भी प्रतिष्ठा की असफलता में एक कारण है। आज का गृहस्थवर्ग यथाशक्ति द्रव्य खर्च करके ही अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ मान लेता है। प्रतिष्ठा सम्बन्धी विधिकार्यों के साथ मानों इसका सम्बन्ध ही न

हो ऐसा समझ लेता है। **मारवाड़ जैसे प्रदेशों में तो प्रतिष्ठा में होने वाली द्रव्योत्पत्ति पर से ही आज प्रतिष्ठा की श्रेष्ठता और हीनता मानी जाती है। प्रतिष्ठाचार्य और विधिकार कैसे हैं, विधि–विधान कैसा होता है इत्यादि बातों को देखने की किसी को फुरसत ही नहीं होती।** आगन्तुक संघजन की व्यवस्था करने के अतिरिक्त मानो स्थानिक जैनों के लिए कोई काम ही नहीं होता। प्रतिष्ठाचार्य और विधिकारों के हाथ में उस समय स्थानिक प्रतिष्ठा कराने वाले गृहस्थों की चुटिया होती है; इसलिये वे जिस प्रकार नचाये, स्थानिक गृहस्थों को नाचना पड़ता है। इस प्रकार दस पंद्रह दिन के साम्राज्य में स्वार्थी प्रतिष्ठाचार्य अपना स्वार्थ साधकर चलते बनते हैं। पीछे क्या करना है इसको देखने की उन्हें फुरसत ही नहीं होती, पीछे की चिन्ता गाम को है। अच्छा होगा तब तो ठीक ही है, पर कुछ ऊंचा–नीचा होगा तो प्रत्येक नंगे सिर वाले को पूछेंगे–मंदिर और प्रतिमाओं के दोष? परन्तु यह तो 'गते जले कः खलु पालिबन्धः' इस वाली बात होती है।

स्वार्थसाधक प्रतिष्ठाचार्यों के सम्बन्ध में आचार्य श्री पादलिप्तसूरि की फिट्कार देखिये–

'अवियाणिऊण य विहिं, जिणबिंबं जो ठवेति मूढमणो।
अहिमाणलोहजुत्तो, निवडइ संसार–जलहिंमि।।7।।'

अर्थात्–'प्रतिष्ठा–विधि को यथार्थ रूप में जाने बिना अभिमान और लोभ के वश होकर जो 'जिनप्रतिमा को स्थापित करता है, वह संसार–समुद्र में गिरता है।'

उपसंहार

प्रतिष्ठाचार्य और प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में कतिपय ज्ञातव्य बातों का ऊपर सार मात्र दिया है। आशा है कि प्रतिष्ठा करने और कराने वाले इस लेख पर से कुछ बोध लेंगे।

जैन विद्याशाला, अहमदाबाद **कल्याणविजय गणी**
ता. 19–08–55

विशेष जिज्ञासुओं को नीचे दिये गये ग्रंथों का अवलोकन करने की विनंति हैः

आधार ग्रंथ सूचि

1. श्री तपागच्छ पट्टावली- पू.महोपाध्याय श्री धर्मसागरजी म.सा.
2. श्री तपागच्छ श्रमण वंश-वृक्ष-पू.मुनिराज श्री दर्शनविजयजी (त्रिपुटी)
3. पट्टावली पराग - पू. पं. श्री कल्याण विजयजी गणि
4. सर्व सिद्धान्त स्तवः (सावचूरि) पू.आ. श्री जिनप्रभसूरि विरचित।
5. वाचक यश वाणी- श्री सीमंधर स्वामी का 350 गाथा का स्तवन, ढाल 16 - पू. उपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा.
6. जैन परंपरानो इतिहास, लेखक- श्री त्रिपुटी महाराज (दर्शनविजयजी, ज्ञानविजयजी, न्यायविजयजी म.सा.)
7. श्री तपागच्छ नो इतिहास-पू. पं. कल्याण वि. म.सा.
8. प्रवचन परीक्षा- पू. महोपाध्याय धर्मसागरजी म.सा.
9. शतपदी ग्रंथ - पू.आ. महेन्द्रसूरिजी म.सा.
10. निबन्ध निचय - पू. पं. श्री कल्याणविजयजी गणि
11. अंचलगच्छ मोटी पट्टावली
12. तपागच्छ का इतिहास भा. 1, खंड 1 - डॉ. शिवप्रसाद
13. महावीर पाट परंपरा - पू. चिदानंदविजयजी म.सा.